जैन कर्म सिद्धांत और हिन्दू परम्परा का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ0 रोहित कुमार
ग्राम– षोकहारा–2
पो0– बरौनी
थाना– फूलवड़िया
जिला– बेगूसराय (बिहार)
पिन– 851112

कर्म सिद्धांत जैन दर्षन का आधार स्तंभ है क्योंकि इसके आधार पर ही सांसारिक जीवों की विविध अवस्थाओं की सम्यक व्यवस्था की जाती है। कर्म सिद्धांत के विभिन्न पक्षों जैसे कर्म का स्वरूप, कर्म बंधन, कर्म विपाक, कर्मफल संविभाग,कर्मक्षय इत्यादि का जितना सूक्ष्मा–तिसूक्ष्म, सुव्यवस्थित एवं मनोवैज्ञानिक विवरण जैन दर्षन में मिलता है उतना अन्य दर्षनों में नहीं मिलता है। कर्म सिद्धांत के विवेचन में जैन दर्षन की अपनी एक मौलिक विषिष्टता है। यद्यपि अन्य दर्षनों में भी कर्म सिद्धांत से संबंधित विवरण दृष्टिगत होते हैं पर ये विवरण जैन दर्षन के कर्मसिद्धांत संबंधी विवरणों की तुलना में अपूर्ण से लगते हैं।

वही हिन्दू परम्परा में कर्म के अनेक रूप परिलक्षित होते हैं उपनिषदों के पूर्व के ग्रन्थों में कर्म का तात्पर्य मात्र यज्ञ–यागदि, नित्यनैमित्रिक क्रियाओं से माना गया है। जैन दर्षन की कर्म के क्रियापरक अर्थ को अंगीकार करता है पर इसका क्रियापरक अर्थ यज्ञ–यागदि क्रियाओं से संबंधित नहीं है। जैन दर्षन में 'कर्म' शब्द विषेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उसके अनुसार संसारी जीव द्वारा राग–द्वेष युक्त होकर क्रिया करने पर उसके आत्म–प्रदेष में एक विषेष प्रकार का स्पन्दन होता है जिसके फलस्वरूप वह सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं को आकर्षित करता है, ये पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ अग्नि लौह पिण्ड की भाँति परस्पर एकमेक हो जाते हैं और आत्मा की अनन्त शक्ति को आच्छादित कर देते हैं। जैन दर्षन में जीव के ऐसे जीव के ऐसे व्याहार को कर्म कहा गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा एवं जैन परम्परा में कर्म को यज्ञ–यागदि क्रियाओं तक सीमित रखा गया है एवं किसी विषिष्ट आकांक्षा की पूर्ति हेतु कर्मों को करने का विधान है, वहाँ जैन दर्षन में कर्म शब्द का प्रयोग बंधन तत्व के रूप में व्यापक अर्थ में हुआ है। इसमें कर्म को द्रव्य एवं भाव दो वर्गों में विभक्त किया गया है जो कर्म के अर्थ के व्यापकत्व के स्पष्ट प्रमाण हैं।

गीता हिन्दू परम्परा का एक बहुमान्य एवं महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इस काव्य में कर्मसिद्धांत से संबंधित सामग्री मिलती है, साथ ही इनका जैन कर्म सिद्धांत के मौलिक स्वरूप से साम्यता भी है।[1] गीता में जीव की समस्त क्रियाओं को कर्म कहा गया है।[2] तिलक जी गीता रहस्य में लिखते हैं कि जीव द्वारा प्रतिक्षण होने वाले क्रियाकलाप तो कर्म है ही, साथ ही जिन व्यापारों को न करने के मानसिक संकल्प जीव के प्रादूभूत होते हैं, जीव के वे मानसिक संकल्प भी कर्म ही है।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि गीता में कर्म शब्द का प्रयोग बहुत ही विस्तृत अर्थ में हुआ है। इसमें जीव वे हर सामान्य क्रिया–व्यापार को कर्म कहा गया है, यहाँ तक कि जन्म लेने एवं मरने की क्रिया को भी कर्म का नाम दिया गया है। गीता के समान जैन दर्षन में भी जीव, के मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक क्रियाओं को कर्म का नाम दिया गया है, पर मुख्य अंतर यह है कि जैन कर्मसिद्धांत में इन व्यापारों के मूल में जीव में प्रत्युत्पन्न होने वाले राग एवं द्वेष रूप भावों के परिणामस्वरूप होते हैं। श्री चन्द सुराना इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं 'राग–द्वेष से संयुक्त इस संसारी जीव के अन्दर प्रतिसमय परिस्पन्दन रूप से जो क्रिया होती रहती है, उसको मिथ्यात्व, अविरति प्रसाद,

कषाय और योग इन पाँच रूपों में वर्गीकृत कर सकते हैं।[4] इनके निमित से आत्मा के साथ ऐक प्रकार का अचेतन द्रव्य आता है और वह राग–द्वेष का निर्मित पाक आत्मा के साथ बँध जाता है और समय पाकर वही द्रव्य सुख एवं दुःख रूप में फल देने लगता है उसे ही कर्म कहते हैं।[5] इससे यह साबित होता है कि जैन दर्षन में कर्म की बंधन शक्ति में राग एवं द्वेष रूप भावों की प्रधानता है। इसी प्रकार हिन्दू परम्परा के मूल ग्रंथ गीता में भी कर्म की बंधन शक्ति आसक्ति मानी गयी है।

कर्म सिद्धांत का एक महत्वपूर्ण प्रत्यय बन्धन है और सभी भारतीय दर्षनों में बन्धन को स्वीकार किया गया है। जहाँ तक हिन्दू परम्परा में बन्धन का प्रष्न है उसमें अज्ञानी एवं आसक्त जीव के प्रत्येक व्यापार को चाहे वे शुभ हो या अषुभ हों, बंधन कारक बताया गया है। गीता में श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि ''हे अर्जुन तू जो भी कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ दान देता है अथवा तप करता है, वह सभी शुभाषुभ कर्म मुझे अर्पित कर दे अर्थात् उनके प्रति किसी प्रकार की आसक्ति या कर्तृत्व भाव मत रख, इस प्रकार संन्यास योग से मुक्त होने पर तू शुभाषुभ फल देने वाले कर्म बन्धन से छूट जाएगा और मुझे प्राप्त हो जायेगा।[6]

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि न केवल अषुभ बल्कि शुभ कर्म भी व्यक्ति को बन्धन में डालता है। डॉ0 राधा कृष्णन् भी गीता के परिचयात्मक निबन्ध में इसी धारणा का समर्थन करते हैं, वे कहते हैं ''चाहे हम अच्छी इच्छाओं के बन्धन में बँधे हों या बूरी इच्छाओं के बन्धन तो दोनों ही हैं, इससें क्या अंतर पड़ता है कि जिन जंजीरों में बँधे हैं वे सोने की हैं या लोहे की।[7] इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू परम्परा में सभी प्रकार के कर्मों को तो बन्धनकारक माना गया है, साथ ही कर्मों के बन्धन में जीव के आन्तरिक मनोविकारों को भी महत्वपूर्ण बताया गया है। जैन परम्परा एवं हिन्दू में मुख्य अन्तर यह है कि जैन परम्परा में बन्धन को वस्तुगत आधार दिया गया है जबकि हिन्दू परम्परा में ऐसी बात नहीं है, परन्तु दोनों में कर्म बन्धन का मूल रूप एक ही है। बन्धन के मूल कारणों के संबंध में दोनों दर्षनों में समानता है। जैन दर्षन के बन्धन के पाँच कारण बताये गये हैं– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कत्रय, और योग।[8] कर्म बन्धन के कारण के रूप में मिथ्यात्व का उल्लेख हिन्दू परम्परा के गीता में भी मिलता है। इस ग्रन्थ में भी सत्ता के वास्तविक स्वरूप का अज्ञान कर्माबन्धन का कारण माना गया है। जैन दर्षन के अविरति सम्बन्धी बन्धन कारक की तुलना गीता के अषुचिव्रत से की जा सकती है।[9] जैन दर्षन के बन्धन कारक प्रमाद को अधोगति का कारण माना गया है।[10] जैन दर्षन सम्मत बन्धन कारक कषाय का उल्लेख हिन्दू परम्परा में तो नहीं है पर उनके चार भेद–क्रोध, मान, माया , एवं लोभ का उल्लेख गीता में भी मिलता है और उसे आसुरी परम्परा कहा गया है।[11] इसी प्रकार बन्धन–कारक योग अर्थात् जीव के कायिक, वाचिक एवं मानसिक व्यापार को स्पष्ट करते हुए गीता में कहा गया है कि समस्त शुभाषुभ कर्मों का बन्धन मन, वाणी और शरीर के निमित्त से होता है।[12]

जहाँ तक कर्मों के बन्धन में पड़ने की बात है, हिन्दू एवं जैन दर्षन दोनों में काफी समानता है। उपनिषद्ों में कर्मबन्धन से छूटने हेतु ज्ञान को महत्वपूर्ण बताया गया है। वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि ''जो यह जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वही अमृत ब्रह्म होता है।[13] छान्दोग्य उपनिषद में यह उल्लेख है 'जिस प्रकार कमल–पत्र में पानी लग नहीं सकता उसी प्रकार जिसे ब्रह्मज्ञान हो गया उसे कर्म दूषित नहीं कर सकते।[14] वृहदारण्यक उपनिषद में ही एक अन्य स्थल पर यह उल्लेख है कि जिसें यह ज्ञान हो चुका है कि सब कुछ आत्ममय है उसे पाप नहीं लग सकता।[15] श्वेताष्वतर उपनिषद में यह कहा गया है। कि ''जिसे परमेष्वर का ज्ञान हो जाता है वह सब पापों सें मुक्त हो जाता है।[16] गीता में भी कहा गया है कि ज्ञान रूप अग्नि से सब कर्म भष्म हो जाते हैं।[17] महाभारत का उदाहरण देते हुए तिलक जी भी अपने 'गीता रहस्य' में

लिखते हैं कि जैसे भूना हुआ बीज उग नहीं सकता है, वैसे ही ज्ञान से जब कर्म दग्ध हो जाते हैं तब वे आत्मा को पुनः प्राप्त नहीं होते।[18]

इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू परम्परा में कर्मबन्धन से छूटने हेतु मुख्य रूप से ज्ञान को ही महत्वपूर्ण माना गया है। यहाँ ज्ञान से अभिप्राय पुस्तकीय ज्ञान से नहीं है, अपितु आत्म ज्ञान से है। शक्ति जिस भावना से उत्प्रेरित होकर कर्म करता है, आत्म ज्ञान के अभाव में उसकी यह भावना कलुषित होती है और व्यक्ति को अपने अज्ञान का ज्ञान नहीं रहता। सच्चा ज्ञान वही है जिसमें व्यक्ति आत्म– निराही एवं समबुद्धि वाला हो। महाभारत में इससे थोड़ा और आगे बढ़कर कहा गया है कि कर्म, मन और वाणी से किसी की हिंसा न करने वाले वीतरागी पुरुष कर्मबन्धन से स्वतः मुक्त हो जाते हैं।[19] परन्तु जैन दर्षन में कर्म बन्धन से छूटने हेतु सम्यकदर्षन, सम्यग्दज्ञान एवं सम्यग्चरित्र तीनों को आवस्यक माना गया है।[20] उत्तराध्ययन सूत्र में इन तीनों के साथ सम्यक तप को जोड़कर चतुर्विध मोक्ष मार्ग का विधान है।[21] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जैन दर्षन ज्ञान को ही नहीं अपितु श्रद्धा एवं आचरण को भी प्रमुखता प्रदान करता है। वैसे प्राचानतम अंग आचारंग में कर्म बन्धन से छूटने हेतु ज्ञान का ही उल्लेख मिलता है। इस सूत्र के प्रारंभ में ही कहा गया है कि मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म शरीर के प्रकम्पित करे।[22] यहाँ शरीर को प्रकम्पित करने से अभिप्राय कर्म बन्धन को षिथिल करने से है।

यदि वास्तव में देखा जाय तो फलित होता है कि अकेले ज्ञान में ही सम्यग्दर्षन एवं सम्यग्चरित्र अप्रत्यक्ष रूप में निहित हैं, क्योंकि बिना सम्यग्दर्षन के सम्यग्ज्ञान का होना असंभव है और सम्यग्ज्ञान के होने पर ही सम्यकचरित्र की संभावना बन सकती है, संक्षेप में कर्मबन्धन से छूटने हेतु ज्ञान का ही अधिक महत्व है क्योंकि जब तक हम अपने आत्मीय स्वरूप का सम्यग्ज्ञान नहीं प्राप्त करेंगे लोभ, अहंकार एवं तृष्णा जनित भावों से उत्प्रेरित होकर कर्म करेंगे, निष्चय ही उक्त प्रकार का कर्म बन्धन कारक होगा। कर्म स्वतः बन्धन का कारण नहीं होता बल्कि जिन आवेषों में आकर जिन भावों से उत्प्रेरित होकर हम कर्म करते हैं, वे भाव हमें बन्धन में डालते हैं। इसलिए कर्म बन्धन से छूटने हेतु आत्मज्ञान को जगाना होगा एवं कर्मों से आसक्ति भाव को हराना होगा, तभी हम वास्तव में कर्मपाष से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

वैसे कर्म बन्धन से छूटने हेतु वेदों में कर्म पर, उपनिषदों में ज्ञान पर एवं गीता में भक्ति पर विषेष बल दिया गया है। गीता में इन तीनों के समन्वय का प्रयास भी किया गया है।

इस प्रकार हम देखते है कि जैन एवं हिन्दू दोनों दर्षन बन्धन से मुक्ति हेतु ज्ञान पर अधिक जोर देते हैं, यह अनष्य है कि हिन्दू परंपरा यहाँ ज्ञान को ही प्रमुखता प्रदान करती है, जैन परंपरा ज्ञान के साथ–साथ श्रद्धा एवं आचरण पर भी जोर देती है तथा दोनों के सम्यक् सहयोग से ही मोक्ष की प्राप्ति होना स्वीकार करती है।

जैन विचारधारा में कर्म की 11 अवस्थायें मानी गई है। जो इस प्रकार से है– 1. बान्ध, 2. संक्रमण, 3. उत्कर्षण, 4. अपवर्तन, 5. सत्ता 6. उदय, 7. उदीरणा, 8. उपशमन, 9. निधत्ति, 10. निकाचन और 11. अबाध ।[23] जैन दर्शन के कर्म की उक्त अवस्थाओं में से कतिपय अवस्थाओं का उल्लेख हिन्दू परंपरा में भी देखने को मिलता है। मुख्यरूप से सत्त, उदय उदीरणा और उपषमन इन चार अवस्थाओं का उल्लेख हिन्दू दर्षन में मिलता है। हिन्दू परंपरा में कम्र की अवस्थाओं के नामों में कु छ अंतर अवष्य दृष्टिगत है, इनमें कर्म की संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण ऐसी तीन सम्सयाएँ मानी गयी है।[24] पूर्व एवं वर्तमान जीवन के उन कर्मों के पुंज को संचित कहते हैं, जिनका फलोपयोग अभी शुरू नहीं हुआ है, इसी संचित का एक दूसरा नाम 'अदृष्ट' एवं मीमांसकों की परिभाषा में अपूर्व भी है। संचित कर्म को 'अदृष्ट' इसलिए कहा जाता है, क्योंकि

जिस समय कर्म या क्रिया की जाती है वह केवल उसी समय दृष्य होती है उसके पष्चात् वह अदृष्य हो जाती है, यद्यपि अदृष्य होकर भी वह फल देने की शक्ति रखती है, पुनः उसे अपूर्व इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसका विलक्षण परिणाम होता है। प्रारब्ध कर्म को स्पष्ट करते हुए, तिलक जी 'गीता रहस्य' में सिखते हैं कि संचित में से जिनके कर्मों का योगना शुरू हो जाता है वह प्रारब्ध कर्म है।[25] इसमें प्रारब्ध कर्म को आरब्ध कर्म भी कहा गया है।

कर्म के तीसरे भेद क्रियामाण से अभिप्राय उन कर्मों से है जो कर्म अभी किये जा रहे हैं।[26] परन्तु तिलक जी कर्म के इस तीसरे भेद क्रियमाण के युक्ति संगत नहीं मानते है, उनका मन्तव्य है कि वर्तमान समय में हम जो कुछ भी करते है, वह प्रारब्ध या संचित कर्मों में जिन कर्मों का भोगना शुरू हो गया है उनका ही परिणाम है। अतएव क्रियमाण को कर्म का तीसरा भेद मानने के लिए कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता है।[27] किन्तु उनका यह विचार समुचित प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि प्रारब्ध कर्म संचित कर्मों में से भोगने वाले कर्मों का एक भाग है, पर क्रियमाण कर्म के साथ ऐसी बात नहीं है। यह एक प्रकार का स्वतंत्र कर्म है

हिन्दू परम्परा के अनारब्ध या संचित कर्म की तुलना जैन दर्षन की सत्ता अवस्था से की जा सकती है। इसी प्रकार प्रारब्ध कर्म तथा क्रियमाण कर्म की तुलना उदय कर्म से तथा क्रियमाण कर्म की तुलना बन्धमान कर्म से करते हैं।[28] जहाँ तक जैन कर्म की उपषामनावस्था की बात है, हिन्दू विचारणा से इसके विषय में स्पष्ट कोई सूचना तो नहीं मिलती, फिर भी महाभारत के इस उल्लेख से कि 'कभी–कभी मनुष्य के पुण्यकाल में किया गया कर्म चुपचाप बैठा रहता है।[29] से जैन कर्म की उपषमनावस्था पर प्रकाष पड़ता है।

इस प्रकार दोनों धर्मों की कर्म की अवस्थाओं की तुलनात्मक समीक्षा करने पर या स्पष्ट होता है कि केवल उनमें कर्म की अवस्थाओं के नामों में अन्तर है। उनके मूलभूत स्वरूप में कोई विषिष्ट अन्तर नहीं है। जैसे जैन विचारणा में कर्म की 11. अवस्थाएँ मानी गयी है। हिन्दू परम्परा में उन 11. अवस्थाओं का उल्लेख मिलकर कुछ ही अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है, हिन्दू परम्परा के प्राप्त होने वाले कर्म की अवस्थाओं से संबंधित विवरण अधिकांषतया जैन कर्म की अवस्थाओं से ही साम्यता रखते हैं।

कर्म एवं पुनर्जन्म का अवधारणा कर्म फलोपभोग से संबंधित है। कर्म फल को इंगित करता है और पुनर्जन्म कर्म करने के बाद फल के रूप में प्राप्त होने वाले जन्म को। यहाँ कर्म–पुनर्जन्म की अवधारणा से कर्मों के फलोपभोग हेतु प्राप्त होने वाले जन्म से है।

जैन दर्षन में कर्म–पुनर्जन्म की मान्यता को स्वीकार किया गया है। इस दर्षन का मन्तव्य है कि यदि मनुष्य अपने कृत कर्मों का फलोपभोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता है तो शेष कर्मों के फलोपभोग हेतु उसे पुनः जन्म लेना पड़ता है। पंडित सुखलाल भी कर्मविपाक की प्रस्तावना में लिखते हैं कि 'जानते या अनजानते जो अच्छा–बुरा कर्म करता है, उसका फल उसे भोगना ही पड़ता है और इसलिए उसे कर्म–पुनर्जन्म के चक्कर में घूमना ही पड़ता है।[30] इससे स्पष्ट होता है कि कर्म फलोपभोग हेतु ही मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

जैन दर्षन की भाँति हिन्दू परम्परा भी कर्म एवं पुनर्जन्म की अवधारणा का समर्थन करती है। उनका मन्तव्य है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार विभिन्न योनियों में गमन करता है।[31] वह जन्म इसलिए ग्रहण करता है क्योंकि वह अपने पूर्व कर्म का उपभोग नहीं कर पाया है।[32] तिलक जी भी गीता रहस्य में लिखते हैं कि 'कर्म चाहे भला हो या बुरा, किन्तु उनका फल भोगने के लिए मनुष्य को एक–न–एक जन्म लेकर

तैयार रहना ही चाहिए।[33] इससे यह भी फलित होता है कि न केवल पुण्य कर्मों के फलोभोग हेतु ही वरन् पाप कर्मों के फलोपभोग हेतु भी मनुष्य को पुनर्जन्म ग्रहण करना पड़ता है।

भगवदगीता में कहा गया है कि मनुष्य के अपने कर्मानुसार स्वर्गलोक एवं इस लोक में आना–जाना पड़ता है।[34]

गीता रहस्य में प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कर्मों में जो संचित प्रारब्ध और अनारब्ध रूप भेद दिखाये गये हैं वे कर्म पुनर्जन्म की अवधारणा के स्पष्ट परिचायक हैं।[35] चूँकि संचित कर्म, पूर्व एवं वर्त्तमान जीवन के कर्मों का संचित पुँज होता है तथा उनमें पुण्य एवं पाप दोनो ही प्रकार के कर्म सन्निहित हैं। पुण्य एवं पाप दो परस्पर विरोधी कर्मों के फलों का भोग एक साथ एवं एक समय में कदापि संभव नहीं हो सकता या तो एक समय में जीव पाप कर्मों का ही फलोपभोग कर सकता है या पुण्य कर्मों का ही। अतः यह बहुत संभव है कि व्यक्ति स्वर्ग एवं नरक परक कर्मों का भोग एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में करे। एक अन्य स्थल पर तिलक जी गीता रहस्य में लिखते हैं कि ''स्वर्ग–सुख एवं नरक–यातना रूप कर्मों का भोग एक समय में और एक ही स्थान में भोगना असंभव है।[36]

इन विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दू एवं जैन परम्परा के कर्म–पुनर्जन्म सिद्धांत संबंधी विचारों में कोई मौलिक भेद नहीं है। वे प्रायः समान अवधारणा का समर्थन करते हैं।

संदर्भ

1. श्रीमद भगवदगीता (1972), गीता प्रेस गोरखपुर, पृ0– 5–8–9
2. गीता रहस्य, पृ0–58
3. गीता–पूर्वोक्त पृ0–5–11
4. वही, पृ0– 5–10
5. वही, पृ0–9–27–28
6. डॉ0 राधाकृष्णन, 1966, भारतीय दर्षन, दिल्ली, पृ0– 52
7. वही, पृ0– 56
8. मिथ्या दर्षन विरतिमादकषाययोगा बन्धहेतवः। तत्वार्थसूत्र, पृ0–8–9
9. डॉ0 रवीन्द्रनाथ मिश्र, 1991, जैनकर्म सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, वाराणसी, पृ0–65
10. गीता, पृ0–14/13, 14/17
11. वही, पृ0– 16/4
12. वही, पृ0– 18/15
13. वृहदारण्य उपनिषद, पृ0– 1/4/10
14. छान्दोग्य उपनिषद पृ0–1/14/3
15. वृहदारण्यक उपनिषद पृ0– 4/4/23

16. श्वेगष्वतर उपनिषद, पृ0– 5/19, 6/13

17. गीता, पृ0–4/37

18. शंकर नरहर जोषी, 1932 महाभारत अनुषासनपर्व, शांतिपर्व, पुणे, पृ0–289

19. वही, पृ0– 231

20. तत्वार्थ सूत्र, पृ0– 1/1

21. श्रीमति एनी बेलेंट, 1938, कर्म सिद्धांत एक अध्ययन, वाराणसी, पृ0–28

22. आचारांग, 1/1/4

23. देवेन्द्र सूरि, 1918, कर्मग्रन्थ, आगरा, पृ0–62

24. श्रीमद भगवदगीता (1972), गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ0–284

25. गीता रहस्य, पृ0–284

26. वही, पृ0–284

27. वही, पृ0– 284

28. डॉ0 रवीन्द्रनाथ मिश्र, 1991, जैनकर्म सिद्धांत का तुलनात्मक अध्ययन, वाराणसी, पृ0–28

29. आध्यात्मिक रामायाण, अयोध्याकांड, पृ0–9/15

30. देवेन्द्र सूरि, 1918, कर्मग्रन्थ, आगरा, पृ0– 69.

31. मनुस्मृति 12/53

32. डॉ0 रवीन्द्रनाथ मिश्र, 1993, जैनकर्म सिद्धांत उद्भव एवं विकास, वाराणसी, पृ0–213

33. वही, पृ0– 215

34. वही, पृ0– वही, पृ0– 218

35. डॉ0 जगदीषचन्द्र जैन, 1966, जैन साहित्य का वृहद इतिहास भाग–2, वाराणसी, पृ0–116

36. सुरेष मुनि, 1965, कर्मवाद एक अध्ययन, आगरा, पृ0–52